

गंगा नदी-तंत्र: गंगा नदी वास्तव में भागीरथी और अलकनन्दा नदियों का ही सम्मिलित रूप है जो देवप्रयाग के निकट मिलकर गंगा कहलाती हैं। गंगा नदी का मुख्य स्रोत उत्तराखंड में स्थित गंगोत्री हिमनद है। यह हरिद्वार के निकट मैदानी भाग में प्रवेश करती है। इसमें दाहिनी ओर से यमुना प्रयाग (इलाहाबाद) के निकट मिलती है। दक्षिणी पठार से आकर सीधे गंगा में मिलनेवाली नदी सोन है। आगे दामोदर नदी छोटानागपुर पठार का जल लाती हुई इसमें आकर मिलती हैं। पुनपुन तथा टोंस जैसी छोटी नदियाँ भी दाहिनी ओर से इसमें मिलती हैं। गंगा के बाएँ तट की मुख्य सहायक नदियाँ पश्चिम से पूर्व इस प्रकार हैं-रामगंगा, गोमती, घाघरा, गंडक, कोसी तथा महानदा। गंगा नदी की सबसे अधिक लम्बाई उत्तर प्रदेश में है।

फरक्का के बाद गंगा नदी दक्षिण-पूर्व की ओर बहते हुए बांग्लादेश में प्रवेश करती है और पद्मा कहलाती है। यहाँ से गंगा कई धाराओं में बँटकर डेल्टाई मैदान में दक्षिण की ओर बहती हुई समुद्र से मिलती है। इस हिस्से में यह भागीरथी-हुगली नाम से जानी जाती है। पावना से पूर्व, गोलुंडों के पास ब्रह्मपुत्र (जो यहाँ जमुना के नाम से पहचानी जाती है) पद्मा से मिलती है तथा उनकी संयुक्त धारा पद्मा के नाम से आगे बढ़ती है। चांदपुर के पास मेघना इससे आ मिलती है और तत्पश्चात् यह मेघना नाम से ही अनेक जल-वितरिकाओं में बँटकर बंगाल की खाड़ी में मिल जाती है। गंगा-ब्रह्मपुत्र का डेल्टा विश्व का सबसे बड़ा डेल्टा माना जाता है जिसका विस्तार हुगली और मेघना नदियों के बीच है। डेल्टा का समुद्री भाग घने वनों से ढंका है। सुन्दरी वृक्ष की अधिकता से यह 'सुन्दर वन' कहलाता है।

हुगली को विश्व की सबसे अधिक 'विश्वासघाती नदी' (Traacherous river) कहते हैं। इसी तट पर कलकत्ता बंदरगाह है जिसे 'पूर्व का लंदन' कहते हैं।

यमुना नदी गंगा नदी-तंत्र की सबसे प्रमुख सहायक नदी है जो यमुनात्री हिमनद (टिहरी-गढ़वाल जिला) से निकलती है। इसमें चंबल, सिन्ध, बेतवा तथा केन नदियाँ आकर मिलती हैं। ये सभी मालवा के पठार से बहती हैं। सोन नदी अमरकंटक की पहाड़ियों में नर्मदा के उद्गम स्थल के निकट से निकलती है।

ब्रह्मपुत्र नदी-तंत्र: ब्रह्मपुत्र (2900 किमी) संसार की सबसे लम्बी नदियों में एक है तथा जल विसर्जन के कुल आयतन की दृष्टि से यह संसार की चार बड़ी नदियों में शामिल है। इसका अपवाह तंत्र तीन देशों- तिब्बत (चीन), भारत व बांग्लादेश में विस्तृत है। यह कैलाश श्रेणी के दक्षिण मानसरोवर झील के निकट महान हिमनद से निकली है। इस

नदी का बेसिन मानसरोवर झील से मरियन ला दर्रे द्वारा पृथक है। ब्रह्मपुत्र का अधिकतर मार्ग तिब्बत में है जहाँ इसका स्थानीय नाम सांगपो है, जिसका अर्थ होता है-शुद्ध करनेवाला। यहाँ समुद्रतल से 4000 मीटर की ऊँचाई पर भी नावें चलती हैं, जो विश्व के सबसे आश्चर्यजनक नौकागम्य जलमार्गों में से एक है।

नामचाबरा पर्वत के पूर्वी किनारे के सहारे यह एक तीखा मोड़ लेते हुए दक्षिण-पश्चिम दिशा में मुड़ जाती है और 5500 मीटर गहरा कैनियन (Canyon) बनाती है। अरुणाचल प्रदेश में यह दिहांग कहलाती है। पासीघाट के निकट (सादिया के पास) दो सहायक नदियाँ दिबांग और लोहित के मिलने के बाद इसका नाम ब्रह्मपुत्र पड़ता है। इसके बाद यह असम घाटी में प्रवेश करती है जहाँ कई सहायक नदियाँ ब्रह्मपुत्र से मिलती हैं। इनमें सुबानसिरी, जिजा भरेली, धनश्री, पुथीमारी, पगलादिया और मानस प्रमुख हैं। असम घाटी में ब्रह्मपुत्र नदी गुंफित जलमार्ग बनाती है जिसमें माजुली जैसे कुछ बड़े नदी द्वीप भी मिलते हैं। यह धुबरी शहर तक पश्चिम की ओर बहती है और तत्पश्चात् गारो पहाड़ी से मुड़कर दक्षिण की ओर मुड़कर गोलपारा के पास बांग्लादेश में प्रवेश करती है। बांग्लादेश में इसका नाम जमुना है। यहाँ ब्रह्मपुत्र में तिस्ता आदि नदियाँ मिलकर अंत में पद्मा (गंगा) में मिल जाती हैं। मेघना की मुख्यधारा बराक नदी का उद्भव मणिपुर की पहाड़ियों में होता है। इसकी मुख्य सहायक नदियाँ माकू, तरंग, तुईवई, जिरी, सोनाई, रुकनी, काटाखल, धलेश्वरी, लांगचिन्नी, मदुवा और जटिंगा है। बराक नदी बांग्लादेश में तब तक बहती रहती है, जब तक कि भैरव बाजार के निकट गंगा-ब्रह्मपुत्र में नदी में इसका विलय नहीं हो जाता।

प्रायद्वीपीय नदियाँ: प्रायद्वीपीय नदियाँ चौड़ी, लगभग संतुलित एवं उथली घाटियों से होकर बहती हैं। ये नदियाँ हिमालय की तुलना में अधिक पुरानी हैं एवं प्रायः प्रौढ़ावस्था को प्राप्त कर चुकी हैं। इसीलिए इन नदियों की ढाल प्रवणता (Slope-gradient) अत्यन्त मंद है। सिर्फ वही हिस्से इसके अपवाद हैं जहाँ नया भ्रंशन हुआ है। प्रायद्वीपीय क्षेत्र की अधिकांश नदियाँ पूर्व की ओर बहती हैं क्योंकि इनका मुख्य जल विभाजक (Water Divide) पश्चिमी घाट है। सिर्फ नर्मदा व ताप्ती ही सामान्य बहाव की दिशा के विपरीत पूर्व से पश्चिम की ओर उन भ्रंश-द्रोणियों में होकर बहती हैं जो उनके द्वारा निर्मित नहीं हैं। इसलिए इन दोनों नदियों की घाटी में जलोढ़ एवं डेल्टाई निक्षेपों की कमी मिलती है। केवल वर्षा-जल पर निर्भर होने के कारण प्रायद्वीपीय नदियाँ मौसमी हैं। गर्मियों के लंबे शुष्क ऋतु में ये प्रायः सूख जाती हैं। इसीलिए

इन नदियों का सिंचाई स्रोत के रूप में महत्व कम है। ठोस पठारी भाग में प्रवाहित होने के कारण इन नदियों का मार्ग सीधा तथा सामान्यतः रैखिक मिलता है। चूँकि जलोढ़ निक्षेपों की इनमें सामान्य कमी पाई जाती है अतः विसर्पण (meandering) की क्रिया इनमें प्रभावी नहीं है।

महानदी, गोदावरी, कृष्णा व कावेरी पूर्व की ओर प्रवाहित होने वाली एवं नर्मदा व ताप्ती पश्चिम की ओर बहनेवाली प्रमुख प्रायद्वीपीय नदियाँ हैं। पश्चिमी घाट इनके बीच जलविभाजक का कार्य करता है। गोदावरी महाराष्ट्र के नासिक जिले से निकलती है एवं प्रायद्वीपीय नदियों में यह सबसे लम्बी (1465 किमी.) नदी है। उसके बाद क्रमशः कृष्णा, महानदी, नर्मदा व कावेरी का स्थान आता है। कृष्णा नदी महाबलेश्वर के पास एक झरने से निकलती है। यह महाराष्ट्र व कर्नाटक से होते हुए बंगाल की खाड़ी में गिरने से पहले 1400 किमी. की दूरी तय करती है। कोयना, घाटप्रभा, मालप्रभा, भीमा, तुंगभद्रा आदि इसकी प्रमुख सहायक नदियाँ हैं। कृष्णा नदी विजयवाड़ा के निकट अपना डेल्टा बनाती है। कृष्णा और कावेरी के मध्य पेन्नार बेसिन स्थित है जिसका अधिकांश भाग आंध्र प्रदेश में है। चित्रावती, जयमंगली आदि पेन्नार की सहायक नदियाँ हैं। कावेरी नदी पश्चिमी घाट की ब्रह्मगिरी श्रेणी से निकलती है एवं कावेरीपत्तनम के पास बंगाल की खाड़ी में गिरने से पहले 800 किमी. की दूरी तय करती है। यह केरल, कर्नाटक व तमिलनाडु तीन राज्यों में विस्तृत है। इसके बायें किनारे पर हेरांगी, हेमवती, शिम्सा और अर्कावती नदियाँ एवं दाहिने किनारे पर लक्ष्मणतीर्थ, काबिनी, सुवर्णवती, भवानी, अमरावती आदि नदियाँ मिलती हैं।

राजस्थान में कई नदियाँ समुद्र में नहीं मिलती। वे नमक की झीलों में मिलकर रेत में समा जाती हैं क्योंकि इनका समुद्र की ओर कोई निकास नहीं है। इनके अलावा रेगिस्तानी नदियाँ लूनी तथा माछू, रूपेन, सरस्वती, बानस तथा घग्घर हैं जो कुछ दूर बहकर मरुस्थल में खो जाती हैं।

भारत की प्रमुख झीलें

* वुलर (जम्मू-कश्मीर) झेलम नदी पर बना गोखुर झील है। इस पर विवर्तनिक क्रिया का भी प्रभाव है। यह भारत में मीठे पानी की सबसे बड़ी झील है। तुलबुल परियोजना इसी पर स्थित है। डल झील कश्मीर की अत्यधिक खूबसूरत झील है।

* सांभर, लूनकरसर, पंचभद्रा एवं डीडवाना राजस्थान की लवणीय झीलें हैं। इनसे नमक का उत्पादन भी किया जाता है। उदयसागर, पिछौला, जयसमंद एवं राजसमंद राजस्थान की अन्य महत्वपूर्ण झीलें हैं।

* उकाई (गुजरात) ताप्ती नदी पर स्थित मानव निर्मित झील है।

* राणाप्रताप सागर व जवाहर सागर(राजस्थान) एवं गांधी सागर (मध्य प्रदेश) चंबल नदी पर स्थित झीलें हैं।

* गोविंद सागर हिमाचल में भाखड़ा बांध के पीछे निर्मित विशाल झील है।

* नागार्जुन सागर (आंध्रप्रदेश) कृष्णा नदी पर, निजामसागर (आंध्रप्रदेश) मंजरा नदी पर एवं तुंगभद्रा (कर्नाटक) तुंगभद्रा नदी पर मानव निर्मित झील है।

* गोविन्द बल्लभ पंत सागर (छत्तीसगढ़ व उत्तर प्रदेश) सोन की सहायक नदी रिहन्द पर बनाई गई झील है।

* स्टेनले जलाशय तमिलनाडु में कावेरी नदी पर मेट्टूर बांध के पीछे बनी झील है।

* लोकटक झील (मणिपुर)– यह पूर्वोत्तर भारत में मीठे पानी की सबसे बड़ी झील है। इस झील में केबुललामजाओ नाम का तैरता हुआ राष्ट्रीय पार्क है।

* चिल्का झील (उड़ीसा) भारत की सबसे बड़ी लैगून (खारे पानी की) झील है।

* कोलेरू झील आन्ध्रप्रदेश के डेल्टाई प्रदेश में बनी बड़ी झील है।

* पुलीकट झील (आन्ध्रप्रदेश) एक लैगून झील है। श्री हरिकोटा द्वीप यहीं पर है जहां सतीश धवन उपग्रह प्रक्षेपण केन्द्र है।

* हुसैन सागर झील हैदराबाद व सिकंदराबाद के मध्य स्थित है एवं इन दोनों नगरों के बीच यातायात संबंध स्थापित करता है।

* वेम्बनाद झील केरल में स्थित है। इसी झील में वेलिंगटन द्वीप है जहाँ पर राष्ट्रीय नौकायन प्रतियोगिताएँ होती हैं। भारत का सबसे छोटा राष्ट्रीय राजमार्ग NH-47 वेलिंगटन द्वीप पर ही है। अष्टमुदी केरल की एक अन्य महत्वपूर्ण लैगून झील है।

* लोनार झील महाराष्ट्र के बुलढाना जिले में एक क्रेटर झील है जो उल्कापिंड के गिरने से बनी है।

भारत की जलवायु

भारत के जलवायु को जिस एक शब्द से अभिहित किया जा सकता है, वह है मानसून। मानसून हवाओं का मौसमी प्रत्यावर्तन है क्योंकि जाड़े के छः महीने में हवाएँ स्थल से समुद्र की ओर और गर्मी के छः महीनों में समुद्र से स्थल की ओर चलती है। मानसून दक्षिणी व दक्षिणी-पूर्वी एशिया की विशेषता है एवं पर्याप्त आर्थिक महत्व रखती है। भारतीय कृषि को मानसून का जुआ माना जाता है क्योंकि अधिकतर क्षेत्रों में कृषि मानसूनी वर्षा पर ही निर्भर है। वस्तुतः मानसून वह धुरी है जिसके चारों ओर भारतीय अर्थव्यवस्था घूमती है। मानसून को शुष्क व आर्द्र दो कालों में बाँटकर देखा जा सकता है। शुष्क काल के अन्तर्गत शीत

ऋतु व ग्रीष्म ऋतु आती है जबकि आर्द्र काल के अन्तर्गत मानसून के आगमन एवं निवर्तन का काल शामिल किया जाता है।

शीत शुष्क ऋतु: यह मध्य दिसम्बर से फरवरी तक का काल है। इस समय सूर्य के दक्षिणायन होने के कारण पश्चिमोत्तर भारत में उच्च दाब का क्षेत्र बन जाता है। यहाँ का तापमान औसतन 10°C मिलता है जबकि इस समय दक्षिणी भारत में लगभग 25°C तापमान रहता है। पवन प्रवाह उत्तर-पश्चिमी भारत से पूर्व की ओर होता है एवं पूर्वी तटीय भाग में उत्तर-पूर्वी व्यापारिक पवनों के प्रभाव से वर्षा होती है। इस समय मुख्य रूप से भूमध्यसागरीय पश्चिमी विक्षोभों से वर्षा प्राप्त होती है। ये वे शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात हैं जो उपोष्ण पछुआ जेट पवनों द्वारा इराक, ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान होते हुए भारतीय भू-भाग तक खींच लिए जाते हैं। पूर्व की ओर बढ़ने पर इनसे वर्षा की मात्रा में कमी देखने को मिलती है। पंजाब में इससे 25 सेमी. वर्षा एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 4 सेमी. वर्षा प्राप्त होती है। यह अल्प वर्षा भी पंजाब, हरियाणा आदि के गेहूँ, चना, सरसों आदि रबी की फसलों में सहायक होती है। राजस्थान में इस वर्षा को मावट कहते हैं। हिमाचल की सब की खेती में भी यह मदद करती है। हिमालय क्षेत्र में हिम रेखा के ऊपर इनसे हिमपात होता है। जिससे नदियाँ वर्षवाहिनी बनी रहती हैं। पश्चिमी विक्षोभों के प्रभाव से उत्तर-पश्चिमी भारत में इस समय शीत-लहरी भी देखने को मिलता है। पश्चिमी विक्षोभों से औसत वार्षिक वर्षा का लगभग 3% प्राप्त हो जाता है।

ग्रीष्म ऋतु: यह मार्च से मध्य जून तक रहती है। इस समय सूर्य उत्तरायण रहता है एवं तापमान में वृद्धि देखी जाती है। 21 मार्च को सूर्य विषुवत रेखा पर एवं 23 जून को कर्क रेखा पर सीधा चमकता है। मार्च के मध्य में तापमान बढ़ना शुरू होता है एवं मध्य मई तक तापमान बढ़कर 40-42°C तक आ जाता है। उत्तर-पश्चिमी भारत में इस समय लू चलती है एवं तापमान कई जगह 45°C से भी ऊपर पहुँच जाता है। राजस्थान में 49°C, बिहार व उत्तर प्रदेश में 38-40°C तथा महाराष्ट्र, कर्नाटक व केरल में इस समय 27-28°C तापमान रहता है। पश्चिमोत्तर भारत का उच्च दाब इस समय धीरे-धीरे निम्न दाब में बदल जाता है। दक्षिणी-पूर्वी आर्द्र समुद्री पवन व स्थलीय शुष्क धूल भरी आंधी के मिलने से तूफान की उत्पत्ति होती है, जिससे पवन की गति और तेज हो जाती है। इस समय मानसून पूर्व की वर्षा प्राप्त होती है जो औसत वार्षिक वर्षा का लगभग 10% होती है। विभिन्न भागों में इस वर्षा के अलग-अलग स्थानीय नाम हैं। असम में इसे चाय वर्षा (Tea Shower), बंगाल में काल

वैसाखी, केरल में आम्र वर्षा (Mango Shower) एवं कर्नाटक में कॉफी वर्षा (Coffee Shower) एवं चेरी ब्लॉसम कहा जाता है। कुछ जगह पर इस वर्षा को नॉर्वेस्टर भी कहा जाता है। इस समय होने वाली वर्षा में तड़ित झंझा (Thunder Storm) भी उत्पन्न होते हैं एवं बिजली की चमक के साथ तेज वर्षा होता है। आर्द्र काल के अन्तर्गत मानसून के आगमन एवं निवर्तन का काल शामिल किया जाता है। जहाँ मानसून के प्रभाविता की अवधि मध्य जून से सितम्बर तक है वहीं निवर्तित मानसून का मुख्य काल अक्टूबर से मध्य दिसम्बर तक की है। इनसे औसत वार्षिक वर्षा का क्रमशः 74% एवं 13% वर्षा प्राप्त होती है।

मानसून का क्रमबद्ध पक्ष अर्थात् उसकी क्रिया-विधि (Mechanism of Monsoon) को निम्न चरणों के अंतर्गत समझा जा सकता है-

(i) **मानसून का आरम्भ व अग्रसरण:** इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं।

परम्परागत सिद्धान्त: इसके अनुसार 21 मार्च के बाद जब सूर्य उत्तरायण होता है तो उत्तरी भारत में गर्मी बढ़ने लगती है। मध्य जून आते-आते गर्मी बेहद बढ़ जाती है एवं पश्चिमोत्तर भारत तथा पाकिस्तान निम्न दाब का क्षेत्र बन जाता है। ये निम्न दाब क्षेत्र इतने शक्तिशाली होते हैं कि द. गोलाध के व्यापारिक पवनें विषुवत रेखा पार कर इस ओर आकर्षित हो जाते हैं व द.प. मानसूनी पवनों के रूप में भारतीय पवन तंत्र का अंग बन जाते हैं। हजारों किमी. की समुद्री यात्रा के कारण इनमें पर्याप्त नमी होती है। अतः काले-काले बादल उमड़ने लगते हैं, ऊमस का वातावरण बन जाता है एवं अंततः भारी वर्षा होती है। इस प्रकार मानसून का आकस्मिक प्रारम्भ हो जाता है जिससे मानसून प्रस्फोट (Burst of Monsoon) कहते हैं। भारत के प्रायद्वीपीय आकार के कारण ये अरब सागर व बंगाल की खाड़ी की दो प्रधान शाखाओं में बंट जाती है। इस समय पर्वतों का वितरण वर्षा का मुख्य निर्धारक होता है। पर्वतीय ढालों के पवन अभिमुख क्षेत्रों में भारी वर्षा होती है जबकि पवनविमुख क्षेत्र में कम वर्षा होने से वृष्टिछाया प्रदेश निर्मित हो जाता है।

फ्लोन की प्रतिविषुवतीय पछुआ पवन सिद्धान्त: (Anti equatorial westerlies theory)

उ.पू. व्यापारिक पवन व द.पू. व्यापारिक पवनों के संपर्क क्षेत्र ITCZ (अंतर-उष्ण कटिबंधीय अभिसरण क्षेत्र) में प्रति विषुवतीय पछुआ पवनें चलती हैं। जब सूर्य के उत्तरायण की स्थिति में ITCZ का उत्तरी सिरा भारतीय भू-भाग की ओर खिसक जाता है (अधिकतम खिसकाव 300N अक्षांश) तो यही पवनें द.प. मानसून के रूप में भारत में वर्षा कराती

हैं।

कोटेश्वरम का जेट-स्ट्रीम सिद्धान्त:

कोटेश्वरम के अनुसार ITCZ की उत्तरी खिसकाव से हिमालय के दक्षिणी भाग में सक्रिय उपोष्ण पट्टा जेट स्ट्रीम का भी उत्तर की ओर खिसकाव हो जाता है। इस समय हिमालय तथा तिब्बत के पठार के गर्म होने तथा गर्म हवाओं के ऊपर उठने से ऊपरी वायुमंडल में प्रतिचक्रवातीय स्थिति उत्पन्न होने के कारण पूर्वी जेट पवनों का अविर्भाव होता है। इस क्षेत्र से उठी वायु की दक्षिणी शाखा मेडागास्कर के पास मैस्करीनी उच्च दाब क्षेत्र में उतरकर सतही दक्षिणी-पश्चिमी मानसूनी पवनों के रूप में पवन की चक्रीय व्यवस्था (हैडली सेल) पूरी करती है। इस क्रम में लंबी समुद्री दूरी तय करने के कारण उसमें पर्याप्त नमी होती है एवं इसीलिए पर्वतीय ढालों के अभिमुख क्षेत्रों में वह पर्याप्त वर्षा लाती है। उष्ण कटिबंधीय पूर्वी जेट पवनों इन मानसूनी पवनों को शक्ति प्रदान करती है। इन जेट पवनों की उत्पत्ति क्षोभ सीमा में 14-16 किमी. की ऊँचाई पर उस समय होती है जब ऊपरी वायुमंडल का वायुदाब 100-150 मिलीबार हो। इसका क्षेत्र विस्तार 8-350 उत्तरी अक्षांश पर होता है एवं ये सिर्फ गर्मियों में उत्पन्न होते हैं। पूर्वी जेट बंगाल की खाड़ी के उष्णकटिबंधीय अवदाबों को भी खींचकर तटीय भागों में लाते हैं एवं चक्रवाती वर्षा कराते हैं। गर्म होने के कारण ये जेट पवनों सतह की आर्द्र वायु को ऊपर उठाती हैं एवं भारतीय भू-भाग पर संवहनीय वर्षा कराते हैं एवं भारत के विभिन्न भागों में मानसून का प्रस्फोट सा हो जाता है। इस प्रकार पूर्वी जेट-स्ट्रीम का द. प. मानसून के अविर्भाव में अत्यधिक योगदान है। चूंकि इस सिद्धान्त से भारत में होने वाली हर प्रकार की वर्षा की व्याख्या हो जाती है। इसीलिए इस सिद्धान्त को पर्याप्त मान्यता है।

वस्तुतः उपरोक्त में से कोई भी सिद्धान्त मानसून की उत्पत्ति की पूर्ण व्याख्या नहीं कर पाता। इन्हें समेकित रूप में देखने पर अपेक्षाकृत सही तस्वीर प्रस्तुत हो पाती है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमोत्तर भाग में निम्नदाब की स्थापना व ITCZ के उत्तरी खिसकाव में संबंध है। इसी प्रकार ITCZ के उत्तरी खिसकाव का संबंध उपोष्ण पट्टा जेट स्ट्रीम के हिमालय के उत्तर की ओर खिसकाव व उष्णकटिबंधीय पूर्वी जेट-स्ट्रीम की उत्पत्ति से है और ये सभी कारक मिलजुल कर भारत में द.प. मानसून के प्रस्फोट के लिए जिम्मेदार है।

मानसून का अग्रसरण पश्चिमोत्तर भारत के निम्न दाब के कारण चापाकार आकृति में होता है। मानसूनी पवनों 1 जून तक केरल तट पर पहुँचती हैं। 13 जून तक मुंबई तथा कोलकाता पहुँच जाती

है। 15 जुलाई तक यह संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप को प्रभावित कर देती है।

(ii) वर्षा लाने वाले यंत्र व वर्षा वितरण:

* पर्वतों का वितरण

* ITCZ की स्थिति

* उष्णकटिबंधीय पूर्वी जेट स्ट्रीम का शक्तिशाली होना जो द.प. मानसूनी पवन को गति प्रदान करता है। ये पवनों पर्वतीय अवरोधों से टकराकर पर्वतीय वर्षा लाती हैं व बंगाल की खाड़ी में उत्पन्न होने वालों अवदाबों को खींचकर भारतीय भू-भाग की आर्द्र पवनों को उठाकर यह संवहनीय वर्षा भी कराती है।

* एलनिनो व दक्षिणी दोलन सूचकांक

जिस वर्ष पेरू के तट पर एलनिनो (प्रति विषुवतीय गर्म सागरीय धारा) का जन्म होता है उस वर्ष दक्षिणी दोलन सूचकांक (Southern Oscillation Index-SOI) नकारात्मक होता है। SOI आस्ट्रेलिया के पोर्ट डार्विन व फ्रेंच पोलिनेशिया के ताहिती के बीच वायुदाब के अंतर से संबंधित सूचकांक है। नकारात्मक SOI प्रशांत महासागरीय वाकर सेल को कमजोर करता है जिससे हिन्द महासागरीय वाकर सेल शक्तिशाली हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप हैडली सेल भारतीय भू-भाग से विस्थापित हो जाता है एवं मानसून कमजोर पड़ जाता है। ऐसी स्थिति सामान्यतः 2 से 5 सालों में उत्पन्न होती है। 1972 ई. में एलनिनो की उत्पत्ति व मानसून के कमजोर पड़ने में सीधा संबंध पाया गया था परन्तु ऐसे भी वर्ष रहें हैं जब एलनिनो आने के बावजूद मानसून खराब नहीं रहा। इस संबंध में भारतीय मौसम वैज्ञानिक बसंत गोवारीकर ने मानसून की भविष्यवाणी हेतु 16 सूचकों (Index) का एक मॉडल दिया है। इनमें तापमान के 6, वायुदाब के 5, पवन तंत्र के 3 और हिमाच्छादन के 2 सूचकांक शामिल हैं। इनमें एलनिनो तापमान का एवं दक्षिणी दोलन सूचकांक वायुदाब का एक-एक महत्वपूर्ण सूचक है। यद्यपि ये मानसून पर पर्याप्त प्रभाव डालते हैं परंतु अन्य सूचकों का भी मानसून की उत्पत्ति एवं प्रभावित पर असर रहता है। इस प्रकार एलनिनो के प्रभाव के बावजूद अभी मानसून की भविष्यवाणी हेतु अनेक शोधों की आवश्यकता है और इस दिशा में लगातार प्रगति जारी है।

(iii) मानसून में विच्छेद: मानसून काल में वर्षा के आर्द्र दौर व शुष्क दौर आते रहते हैं। लम्बे शुष्क दौर को मानसून विच्छेद कहा जाता है। यह वह स्थिति है जब एक-दो या कई सप्ताह तक वर्षा न हो। इसके निम्न कारण हैं-

- ITCZ की स्थिति (मैदानी भागों में रहने पर वर्षा)

- उष्ण कटिबंधीय अवदाबों की आवृत्ति में कमी आना

- जब भाप भरी हवाओं की दिशा प. घाट के समानान्तर रहे।

- तापक्रम का प्रतिलोमन।

(iv) मानसून का निवर्तन:

इसका संबंध सूर्य के दक्षिणायण से है जिस कारण निम्न दशाएं

बनती हैं-

- शीतकाल में पश्चिमोत्तर भारत में उच्च दाब का विकास।

- ITCZ का द. की ओर स्थानान्तरण।

- उपोष्ण पट्टा जेट स्ट्रीम का पुनः अपने स्थान पर लौटना।

- उ.पू. व्यापारिक पवनों का अपने स्थान पर कायम होना।

मानसून का निवर्तन भी चापाकार आकृति में होता है। निवर्तित मानसून बंगाल की खाड़ी से जलवाष्प ग्रहण कर पूर्वी तटीय भागों में वर्षा कराती है। अक्टूबर-नवम्बर में उत्तरी सरकार क्षेत्र में जबकि नवम्बर-दिसम्बर में तमिलनाडु तट (कोरोमंडल तट) पर वर्षा होती है। मानसून की संपूर्ण क्रियाविधि अत्यधिक जटिल है एवं इस पर निरंतर शोध जारी है।

बाढ़ व सूखाग्रस्त क्षेत्रों की पहचान: भारत में वर्षा का प्रादेशिक व मौसमी वितरण अत्यधिक विषम है। जहाँ एक ओर जैसलमेर में 9 सेमी. से कम वर्षा होती है तो मॉसिनराम में 1140 सेमी. से भी अधिक वर्षा होती है। इसी प्रकार भारत में अधिकतर वर्षा जून से सितम्बर के चार आर्द्रतम महीनों में ही होती है। अतः बाढ़ एवं सूखाग्रस्त क्षेत्र की पहचान के लिए निश्चित व अनिश्चित वर्षा क्षेत्रों को जानने के अलावा वर्षा की विचलनशीलता की प्रकृति को समझना भी आवश्यक है। सामान्यतः अनिश्चित व कम वर्षा के क्षेत्रों में विचलनशीलता अधिक है और ये क्षेत्र सूखाग्रस्त क्षेत्रों के अंतर्गत आते हैं।

सूखा

यह एक असामान्य व लम्बा शुष्क मौसम है जो किसी क्षेत्र विशेष में स्पष्ट जलीय असंतुलन पैदा करता है। सूखा के लिए मानसून की अनिश्चित प्रकृति के अलावा कृषि का अवैज्ञानिक प्रबंधन भी उत्तरदायी कारक हो सकती है। सूखे को तीन प्रकार में बांटा गया है:-

1) मौसम विज्ञानी: किसी बड़े क्षेत्र में अपेक्षा से 75% कम वर्षा प्राप्त होने पर ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है।

2) जलीय सूखा: मौसम विज्ञानी सूखा की अवधि के काफी लम्बा होने पर आ जाती है। ऐसे सूखे के समय नदियाँ, तालाब, झील जैसे जल क्षेत्र सूख जाते हैं।

3) कृषिगत सूखा : यह फसल के लिए अपेक्षित

वर्षा से काफी कम वर्षा होने का परिणाम है। इस अवस्था में मिट्टी की नमी फसल विकास के लिए अपर्याप्त होती है।

सिंचाई आयोग ने वर्षा की मात्रा व उसकी विचलनशीलता के आधार पर सूखा प्रभावित क्षेत्रों को दो भागों में बांटा है:-

सूखा क्षेत्र: ये वैसे क्षेत्र हैं जहाँ वर्षा 50 सेमी. से कम होती है एवं वर्षा की विचलनशीलता 25% से अधिक रहती है। इन क्षेत्रों के अंतर्गत पश्चिमी राजस्थान, सौराष्ट्र व कच्छ आते हैं। यहाँ मरुस्थलीकरण रोकने, पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने, जल व मृदा का प्रबंधन आदि के लिए मरुभूमि विकास कार्यक्रम (Desert Development Programme) चलाए जा रहे हैं।

सूखाग्रस्त क्षेत्र : ये वैसे क्षेत्र हैं जहाँ सामान्य वर्षा 75 सेमी. से कम एवं वर्षा की विचलनशीलता सामान्यतः 25% है। इसके अंतर्गत गुजरात, राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पश्चिमी मध्य प्रदेश, मध्य महाराष्ट्र, आंतरिक कर्नाटक, रायलसीमा, दक्षिणी तेलंगाना, तमिलनाडु के कुछ भाग, बिहार में चंपारण जिला, पूर्वी उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर, झारखंड में पलामू, पश्चिम बंगाल में पुरुलिया व उड़ीसा में कालाहांडी जिले आते हैं। ये क्षेत्र द्वितीयक हरितक्रांति के संभावित क्षेत्र हैं। यहाँ शुष्क-कृषि प्रणाली, मृदा व जल प्रबंधन, ड्रिप व स्प्रिंकलर सिंचाई, सामाजिक वानिकी, भूमि उत्पादकता बढ़ाने के विविध प्रयास तथा वैकल्पिक अर्थ-व्यवस्था के रूप में पशुपालन का विकास आदि कार्यक्रम, सूखाग्रस्त कार्यक्रम (Drought Prone Area Programme) के तहत चलाए जा रहे हैं।

बाढ़

जब नदियाँ या जलधाराएँ तटबंधों को पारकर अपने जल को आसपास के क्षेत्रों में फैला दे तो बाढ़ की घटनाएँ होती हैं। इसका मुख्य कारण नदियों के जलग्रहण क्षेत्र में भारी वर्षा का होना है। चक्रवाती तूफानों से भी अचानक अत्यधिक वर्षा से तटीय भागों में बाढ़ की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। बाढ़ के अचानक फट जाने से राजस्थान जैसे शुष्क क्षेत्रों में भी कभी-कभी बाढ़ की स्थिति देखने को मिलती है। यद्यपि बाढ़ के लिए मानसून की प्रकृति ही मुख्यतः जिम्मेदार होती है परन्तु नदी-बेसिनों में अधिक अवसादीकरण, नदियों का मार्ग बदलना, मानवीय बसाव के कारण नदियों के जल-चैनल का संकरा होना, पहाड़ी ढालों पर वनों की अंधाधुंध कटाई, विकास कार्यक्रमों में ढाल का ध्यान न रखा जाना आदि भी बाढ़ के लिए उत्तरदायी कारक हैं। भारत सरकार के जल संसाधन विभाग के अनुसार बाढ़ के द्वारा होनेवाले हानि का 60% नदियों में आने वाले बाढ़ से एवं 40% अधिक वर्षा एवं चक्रवातों से होती है। राष्ट्रीय बाढ़ आयोग ने देश

के 40 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्र को बाढ़ग्रस्त क्षेत्र बताया है। बाढ़ संरक्षण उपायों के बावजूद हर वर्ष 7.7 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्र बाढ़ से प्रभावित होता है जिसमें कुल बोए गए क्षेत्र का 3.5 मिलियन हेक्टेयर भूमि शामिल है। जब बाढ़ अपने चरम पर होती है उस वर्ष अधिकतम 10 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्र तक प्रभावित होता है।

बाढ़ क्षेत्र

बाढ़ आयोग ने बाढ़ की आवृत्ति के अनुसार विभिन्न बाढ़ क्षेत्रों को तीन भागों में बांटा है।

1. अधिकतम आवृत्ति के क्षेत्र: यहाँ हर वर्ष बाढ़ की घटनाएँ होती हैं। इसके अंतर्गत ब्रह्मपुत्र घाटी, निम्न गंगा घाटी, गंगा, गोदावरी, कृष्णा, महानदी, कावेरी आदि नदियों के डेल्टाई क्षेत्र; गंडक, कोसी जैसे नदियों के बाढ़ क्षेत्र शामिल किए जाते हैं।

2. मध्यम आवृत्ति वाले क्षेत्र: यहाँ पाँच वर्ष या कम अंतराल पर बाढ़ की घटनाएँ होती हैं। भारत के अधिकतर अन्य बाढ़ क्षेत्र इसी के अंतर्गत आते हैं।

3. निम्न आवृत्ति के क्षेत्र: ये वैसे क्षेत्र हैं जहाँ कम वर्षा होती है। परन्तु यहाँ सामान्यतः पाँच वर्षों से भी अधिक अंतराल पर बाढ़ प्रस्फोट से अचानक भारी वर्षा तथा अनियमित जल निकासी व्यवस्था के कारण बाढ़ की घटनाएँ देखने में आती हैं। बाढ़ नियंत्रण हेतु संरचनात्मक उपायों के तहत बांध व जलाशयों का निर्माण, जल-निकासी चैनलों में सुधार, नदियों को जोड़ना, वनीकरण जैसे उपाय आते हैं। परन्तु INCID (Indian National Committee on Irrigation & Drainage) के अनुसार सिर्फ संरचनात्मक उपायों से बाढ़ पर पूर्ण नियंत्रण संभव नहीं है। अतः उसने Flood Plain Zone की अवधारणा प्रस्तुत की है और बताया है कि यहाँ किसी भी विकास गतिविधि से पूर्व बाढ़ विशेषज्ञों की अनुमति लिया जाना अनिवार्य किया जाना चाहिए। वर्तमान समय में सभी बाढ़ग्रस्त नदियों के लिए मास्टर प्लान बनाए जा रहे हैं। देश में 11 राज्यों एवं 2 केन्द्र शासित राज्यों में 162 पूर्वानुमान स्टेशन स्थापित किए जा चुके हैं। INSAT व IRS उपग्रह प्रणालियों से बाढ़ की भविष्यवाणी में भी बेहतर मदद मिल रही है। 2009 में पूर्वानुमान की परिशुद्धता 98% तक थी। नवीनतम उपग्रह OCEANSAT, METSAT आदि के आने के बाद बाढ़ पूर्वानुमान की परिशुद्धता बढ़ी है।

भारत की मिट्टियाँ

भारत जैसे वृहद् देश में उच्चावच तथा जलवायु संबंधी दशाओं में विविधताओं के कारण मिट्टियों में प्रादेशिक भिन्नता का पाया जाना स्वाभाविक है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् ने भारत की मिट्टियों का विभाजन 8 प्रकारों में किया है। ये निम्न हैं -

(1) जलोढ़: यह मिट्टी देश के 40 प्रतिशत भागों

में लगभग 15 लाख वर्ग किमी. क्षेत्र में विस्तृत है। इसमें रेत, गाद, मृत्तिका (क्ले) के भिन्न-भिन्न अनुपात होते हैं। तटीय मैदानों व डेल्टा प्रदेशों में यह प्रचुरता से मिलती है। गिरिपाद मैदानों में भी इसकी बहुतायत है। भूगर्भशास्त्रीय दृष्टिकोण से इसे बांगर व खादर में विभक्त किया जाता है। प्राचीन जलोढ़क को बांगर कहते हैं जिसमें कंकड़ व कैल्शियम कार्बोनेट भी होता है। इसका रंग काला या भूरा होता है। खादर मिट्टी से यह लगभग 30 मी. की ऊँचाई पर मिलता है। नवीन जलोढ़क जिसे खादर भी कहा जाता है, हर साल बाढ़ द्वारा लाई गई मिट्टियाँ होती हैं। बांगर की अपेक्षा यह अधिक उपजाऊ होती है। जलोढ़ मिट्टियाँ पोटाश, फास्फोरिक अम्ल, चूना व कार्बनिक तत्वों में धनी होती हैं परन्तु इसमें नाइट्रोजन व ह्यूमस की कमी पाई जाती है।

(2) काली: इसे रेगुर मिट्टी या कपासी मिट्टी भी कहा जाता है। इसका रंग काला होता है एवं यह कपास की खेती हेतु सबसे उपयुक्त मिट्टी है। यह लगभग 5.46 लाख वर्ग किमी. में विस्तृत है। इसका निर्माण ज्वालामुखी लावा के अपक्षयण व अपरदन से हुआ है। इसके निर्माण में चट्टानों की प्रकृति के साथ-साथ जलवायु की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। मैग्नेटाइट, लोहा, एल्युमिनियम सिलिकेट, ह्यूमस आदि की उपस्थिति के कारण इसका रंग काला हो जाता है। यह गीली होने पर चिपचिपी हो जाती है जबकि सूखने पर इसमें दरारें पड़ जाती हैं। इस मिट्टी में नमी धारण करने की बेहतर क्षमता होती है। इसीलिए शुष्क कृषि के लिए यह सबसे उपयुक्त मिट्टी मानी जाती है। इसमें कपास, मोटे अनाज, तिलहन, सूर्यमुखी, अरंडी, सब्जियाँ, खट्टे फल की कृषि होती है। इस मिट्टी में लोहा, चूना, पोटाश, एल्युमिनियम, कैल्शियम व मैग्नेशियम कार्बोनेट प्रचुर मात्रा में होता है जबकि नाइट्रोजन, फास्फोरस व कार्बनिक तत्वों की कमी पायी जाती है।

(3) लाल: यह लगभग 5.18 लाख वर्ग किमी. क्षेत्र में विस्तृत है। सामान्य से लेकर भारी वर्षा वाली दशाओं में यह प्राचीन क्रिस्टलीय शैलों के अपक्षयण व अपरदन से निर्मित हुआ है। गहरे निम्न भू-भागों में यह दोमट प्रकार की है जबकि तथा उच्च भूमियों पर असंगठित कंकड़ों के समान मिलता है। यह अपेक्षाकृत कम उपजाऊ मिट्टी है तथा इसमें सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। ऊँची भूमियों पर यह बाजरा, मूंगफली और आलू की खेती के लिए उपयुक्त है जबकि निम्न भूमियों पर इसमें चावल, रागी, तंबाकू तथा सब्जियों की खेती की जा सकती है। इस मिट्टी में घुलनशील लवणों की पर्याप्तता होती है परन्तु फास्फोरिक अम्ल, कार्बनिक तत्व, जैविक पदार्थ, चूना व नाइट्रोजन

की कमी पाई जाती है।

(4) लैटेराइट: यह मिट्टी 1.26 लाख वर्ग किमी. क्षेत्र में विस्तृत है। 200 सेमी. या अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में चूना व सिलिका के निक्षालन से इसकी उत्पत्ति होती है। यह सामान्यतः झाड़ व चारागाह का क्षेत्र है परन्तु उर्वरक डालने पर चावल, रागी, काजू आदि की उपज संभव है। इस मिट्टी में लौह ऑक्साइड व अल्युमिनियम ऑक्साइड की प्रचुरता होती है परन्तु नाइट्रोजन, फास्फोरिक अम्ल, पोटाश, चूना और कार्बनिक तत्वों की कमी मिलती है।

(5) जंगली व पर्वतीय मिट्टी: यह 2.85 लाख वर्ग किमी. क्षेत्र में विस्तृत है। जलवायु व पारिस्थितिकी के अनुसार इन मिट्टियों की प्रकृति में भिन्नता मिलती है। यह निर्माणाधीन मिट्टी है। ह्यूमस की अधिकता के कारण यह अम्लीय गुण रखती है। इस मिट्टी में कृषि हेतु उर्वरक डालने की आवश्यकता पड़ती है। भारी वर्षा वाले क्षेत्रों में इसमें ह्यूमस अधिक होता है। अतः ऐसे क्षेत्रों में चाय, कॉफी, मसाले तथा उष्णकटिबंधीय फलों की खेती संभव है। कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल, मणिपुर, जम्मू-कश्मीर व हिमाचल प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों में यह मिट्टी पायी जाती है। मिश्रित फल, गेहूँ, मक्का, जौ की खेती के लिए यह मिट्टी उपयुक्त होती है। जंगली मिट्टियों में पोटाश, फास्फोरस, चूने की कमी पायी जाती है।

(6) शुष्क और मरुस्थलीय: शुष्क व अर्धशुष्क क्षेत्रों में इसका विस्तार 1.42 लाख वर्ग किमी. क्षेत्र है। इस मिट्टी में बालू की मात्रा अधिक होती है एवं यह बाजरा व ज्वार जैसे मोटे अनाजों की खेती के लिए उपयुक्त है। परन्तु राजस्थान के गंगानगर जिले में, जहाँ कि सिंचाई की सुविधा उपलब्ध है, इस मिट्टी में गेहूँ व कपास का उत्पादन होता है। इन मिट्टियों में घुलनशील लवणों एवं फास्फोरस की मात्रा काफी अधिक होती है जबकि कार्बनिक तत्वों एवं नाइट्रोजन की कमी होती है।

(7) लवणीय व क्षारीय: यह मिट्टी राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, तमिलनाडु के शुष्क व अर्धशुष्क प्रदेशों में 1.70 लाख वर्ग किमी. क्षेत्र में विस्तृत है। सोडियम व मैग्नेशियम की अधिकता के कारण यहाँ मिट्टी लवणीय तथा कैल्शियम व पोटैशियम की अधिकता के कारण क्षारीय हो गई है। अतः ये खेती के लिए उपयुक्त नहीं हैं। विशेषकर नहरी सिंचाई के क्षेत्रों में कोशिका क्रिया (कैपिलरी ट्रांसफरेंस) के कारण ये ऊपरी सतह तक सीमित होती है एवं कृषि के लिए हानिकारक व अनुपजाऊ हो जाती है। इनका स्थानीय नाम-रेह, कल्लर, रकार, ऊसर, कार्ल, चॉपेन आदि है। इन मिट्टियों को चूना या जिप्सम मिलाकर सिंचित कर तथा चावल और गन्ना जैसे लवणरोधी फसलों को लगाकर सुधारा जा सकता

है। उस स्थिति में इसमें चावल, गन्ना, कपास, गेहूँ, तंबाकू की उपज संभव है।

(8) गीली और दलदली: इसका निर्माण अत्यधिक आर्द्रता वाली दशाओं में बड़ी मात्रा में कार्बनिक तत्वों के जमाव के कारण होता है। यह मुख्यतः तटीय प्रदेशों तथा जल-जमाव के क्षेत्रों में पाई जाती है। इसमें घुलनशील लवणों की पर्याप्तता होती है परन्तु फास्फोरस व पोटाश की कमी रहती है। गीली मिट्टी प्रायः धान की खेती के उपयुक्त होती है। दलदली मिट्टी का निर्माण जल जमाव के क्षेत्रों में वात निरपेक्ष दशा में मिट्टियों में लौह-तत्व की उपस्थिति व बड़ी मात्रा में वनस्पतियों के कारण होती है।

यह मिट्टी खेती के लिए अनुपयुक्त है।

मिट्टी की उर्वरता में कमी का कारण:

* पोषक तत्वों का ह्रास (फसल हटाने के क्रम में)

* निक्षालन - भारी वर्षा के कारण

* अपरदन - उर्वरतायुक्त मिट्टी की सतह का ह्रास

* कृषि भूमि का अति-उपयोग

* दोषपूर्ण कृषि प्रबंधन

उर्वरता में वृद्धि के लिए इन कारणों पर नियंत्रण के साथ-साथ सिंचाई व फसलों में आवश्यकतानुसार खाद डालना आवश्यक है। भारतीय मिट्टियों में सामान्यतः नाइट्रोजन, फास्फोरस व पोटाश की कमी होती है। कार्बनिक खादों व उर्वरकों को डालकर इस कमी को पूरा किया जाता है। चक्रीय कृषि, मिश्रित कृषि आदि से मिट्टी की गुणवत्ता में वृद्धि होती है।

मृदा अपरदन: परिणाम

* नदियों में बाढ़ आना

* उपमृदा जल स्तर का नीचे जाना

* उर्वरता में कमी

* जल धाराओं में गाद जमा होना

* निर्मित बांधों की घटती आयु

संरक्षण के उपाय

* परती जमीन पर वनस्पति आवरण (घास आदि)

* पर्वतीय ढलानों पर पेड़ लगाया जाना।

* रेखीय जुताई, पट्टीदार कृषि

* पर्वतीय ढलानों पर सीढ़ीदार खेती

* तेज ढलानों पर अवरोधी बांध का निर्माण

* पेड़ों को लगाकर वायुरोधकों का निर्माण

* चारागाहों के अत्यधिक दोहन पर रोक लगाना

* समय-समय पर भूमि को परती छोड़ना ताकि मृदा की उर्वरता बनी रहे।

देश में मृदा अपरदन व उसके दुष्परिणामों पर नियंत्रण हेतु 1953 में केन्द्रीय मृदा संरक्षण बोर्ड का गठन किया गया जिसका कार्य राष्ट्रीय स्तर पर मृदा संरक्षण के कार्यक्रमों का संचालन करना था। इन

कार्यक्रमों के अंतर्गत परिरेखीय बांधों का निर्माण, सीढ़ीदार खेतों का निर्माण, जमीन का समतलीकरण, वनारोपण, घास के मैदानों का विकास व अन्य जैव-वैज्ञानिक कार्य शामिल थे। मृदा की समस्याओं के अनुसंधान तथा प्रदर्शन के लिए 8 क्षेत्रीय केन्द्रों का गठन किया गया है। मरुस्थल की समस्या के अध्ययन के लिए जोधपुर में Central Arid Zone Research Institute (CAZRI) की स्थापना की गई है।

भारत की प्राकृतिक वनपतियाँ

भारत अत्यधिक विविधतापूर्ण जलवायु एवं मृदा का देश है। इसीलिए यहाँ उष्णकटिबंधीय वनों से लेकर टुंड्रा प्रदेश तक की वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। भारत की प्राकृतिक वनपतियों को निम्न वर्गों में बांटा जा सकता है-

(1) उष्णकटिबंधीय सदाहरित वन: 200 सेमी से अधिक वर्षा के क्षेत्रों में ये वन मिलते हैं। मुख्य प्रदेश सहयाद्रि भारत की प्राकृतिक वनस्पतियाँ (पश्चिमी घाट), शिलांग पठार अंडमान निकोबार द्वीप समूह और लक्षद्वीप हैं। उत्तरी सहयाद्रि प्रदेश में इन वनों को 'शोला वन' के नाम से जाना जाता है। विषुवतीय वनों की तरह ही इन वनों की लकड़ियाँ कड़ी होती हैं एवं वृक्षों की अनेक प्रजातियाँ मिलती हैं। पेड़ों की ऊँचाई 60 मीटर से भी अधिक मिलती है। यहाँ पाए जानेवाले प्रमुख वृक्ष महोगनी, आबनूस, जारूल, बाँस, बेंत, सिनकोना और रबर हैं। ये वन मसालों के बागानों के लिए भी महत्वपूर्ण हैं। रबर और सिनकोना दक्षिणी सहयाद्रि और अंडमान-निकोबार में मिलते हैं। अंडमान-निकोबार का 95% भाग इन्हीं वनों से ढँका है।

(2) उष्णकटिबंधीय आर्द्र पर्णपाती वन: यह 100 से 200 सेमी. वर्षा क्षेत्र में मिलती है। इसके मुख्य क्षेत्र सहयाद्रि के पूर्वी ढलान, प्रायद्वीप के उ.पू. पठारों, शिवालिक श्रेणी के सहारे भाबर व तराई प्रदेश हैं। ये विशिष्ट मानसूनी वन हैं। यहाँ के प्रमुख पेड़ सागवान, सखुआ, शीशम, आम, महुआ, बाँस, खैर, त्रिफला व चंदन हैं। ये सभी आर्थिक दृष्टिकोण से मूल्यवान हैं। सागवान, सखुआ व शीशम के लकड़ियाँ फर्नीचर बनाने में काम आती हैं। रेल के स्लीपर बनाने में सखुआ लकड़ी का प्रयोग किया जाता है।

(3) उष्णकटिबंधीय शुष्क पर्णपाती वन : ये वनस्पतियाँ 70 से 100 सेमी. वर्षा क्षेत्र में मिलती हैं। यहाँ ऊँचे पेड़ों का अभाव मिलता है। शुष्क सीमान्त की ये वन कटीले वनों और झाड़ियों में बदल जाते हैं। अत्यधिक चराई यहाँ पर मुख्य समस्या है।

(4) कटीले वन व झाड़ियाँ: ये वन गुजरात से लेकर राजस्थान व पंजाब के उन भागों में मिलती

हैं जहाँ वर्षा 70 सेमी. वार्षिक से कम होती है। मध्यप्रदेश के इंदौर से आंध्रप्रदेश के कूर्नूल तक ये पठार के मध्यभाग में अर्द्धचन्द्राकार पटी में मिलते हैं। यहाँ की प्रमुख वनस्पतियाँ बबूल, खैर, खजूर, नागफनी, कैक्टस आदि हैं।

(5) पर्वतीय वन: चूँकि ऊँचाई बढ़ने पर जलवायुविक दशाओं विशेषकर तापमान व वर्षा में परिवर्तन आते हैं इसीलिए पर्वतीय भागों में ऊँचाई के साथ वनस्पतियों के स्वरूप में क्रमिक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। यहाँ ऊँचाई के बढ़ते क्रम में उष्णकटिबंधीय से लेकर अल्पाइन वनस्पति तक मिलती है। 1500 मी. तक की ऊँचाई तक पर्णपाती वन मिलते हैं। 1500 से 3500 मी. की ऊँचाई तक कोणधारी सदाहरित वन मिलती हैं जिनके वृक्षों की लकड़ियाँ मुलायम होती हैं। यहाँ देवदार, स्प्रूस, सिल्वर फर, चीड़ आदि के छोटी व सूच्याकार पत्तियाँ वाले वन मिलते हैं। पूर्वी हिमालय के अधिक वर्षा के क्षेत्रों में ओक, मैग्नेलिया व लॉरेल के चौड़ी पत्तीवाले सदाहरित वन मिलते हैं। अल्पाइन वनस्पतियाँ 2800 मी. से 4800 मी. की ऊँचाई तक मिलते हैं। यहाँ प्रारम्भ में चिनार व अखरोट के पेड़ एवं अल्पाइन चारागाह हैं, जबकि अधिक ऊँचाई पर कोई वनस्पति नहीं मिलती।

(6) ज्वारीय वन: ये वन मुख्यतः उन भागों में मिलते हैं जहाँ नदियों का ताजा जल समुद्री जल से मिलता है एवं परिणामस्वरूप दलदली भाग बन जाता है। गंगा, गोदावरी, कृष्णा आदि के निम्न डेल्टाई भाग इन वनस्पतियों के आदर्श उत्पत्ति क्षेत्र हैं। यहाँ प्रमुख वनस्पतियाँ मैग्रोव, सुन्दरी, कैजुरीना, केवड़ा, बेंदी के वृक्ष हैं। ज्वारीय वन समुद्री कटाव को रोकते हैं एवं इनकी लकड़ियाँ जल में सड़ती नहीं हैं। ये भी एक प्रकार के उच्च जैव-विविधता युक्त सदाहरित वन ही हैं।

राष्ट्रीय वन नीति

भारत में वनों का वितरण अत्यधिक असमान व अपर्याप्त है। भारत की समस्त भूमि का मात्र 23% भाग वनाच्छादित है। महाराष्ट्र, हिमाचल प्रदेश, केरल, उड़ीसा व त्रिपुरा कुछ ऐसे गिने-चुने राज्य हैं जहाँ वन क्षेत्र राष्ट्रीय औसत से कम या काफी कम है। भारत में सबसे पहले 1894 ई. में वन नीति का निर्माण हुआ जिसको 1952 ई. में तथा 1988 ई. में संशोधित किया गया। 1988 ई. की संशोधित नीति वनों की सुरक्षा, संरक्षण तथा विकास पर जोर देती है। राष्ट्रीय वन नीति-1988 के अनुसार भारत में 33% वन क्षेत्र की प्राप्ति का लक्ष्य रखा गया है। इसके अनुसार मैदानी भागों में 20% तथा पर्वतीय भागों में 60% क्षेत्र को वनाच्छादित करने की आवश्यकता है। 2012 ई. देश में 33% वन क्षेत्र प्राप्ति का लक्ष्य रखा गया है। यद्यपि इस दिशा में किए गए प्रयास अभी भी अपर्याप्त हैं।

सामाजिक वानिकी

पेड़ लगाने को प्रोत्साहित करने वाला यह कार्यक्रम 1976 ई. से ही चल रहा है। वनारोपण को जन-आंदोलन बनाया इस नीति का लक्ष्य है। इसमें गैर-सरकारी संगठनों का भी सहयोग लिया जा रहा है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य वनक्षेत्र का विकास, ईंधन व चारे की आपूर्ति, उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराना तथा वनारोपण द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर उत्पन्न करना है। सामाजिक वानिकी के तीन तत्व हैं जो निम्न हैं- कृषि वानिकी-किसानों को मुफ्त बीज व छोटे पौधे देकर अपने खेतों में वृक्षारोपण हेतु प्रोत्साहित करना। ग्रामीण या सामुदायिक वानिकी- गाँवों की सामूहिक उपयोग वाली सार्वजनिक भूमियों पर जन-समूहों द्वारा वृक्षारोपण। यह सामाजिक वानिकी का स्वयं नियोजित कार्यक्रम है।

शहरी या सार्वजनिक वानिकी : सड़को, नहरों, टैंकों तथा अन्य सार्वजनिक भूमियों पर वन विभाग द्वारा तेजी से बढ़ाने वाले पौधों को लगाया जाता। कनाडा तथा स्वीडन के तकनीकी सहयोग से चलाया जाने वाला यह केन्द्र नियोजित कार्यक्रम है। इसे वित्तीय सहयोग विश्व बैंक से मिलता है। वर्तमान समय में इस कार्यक्रम के अंतर्गत सबसे अधिक सफलता कृषि वानिकी को ही मिल सकी है।

सामाजिक वानिकी के अधिक सफल नहीं होने का मुख्य कारण जन-भागीदारी व जन-सूचना का अभाव रहे हैं। यूके लिफ्टस जैसे पारिस्थितिक-आतंकवादी (Ecological terrorist) पौधों का चयन भी इस कार्यक्रम की असफलता का कारण रहा है क्योंकि इससे अन्य पौधों का विकास रुक जाता था। अभी भी जन भागीदारी बढ़ाने, भूमिहीनों व जनजातियों को शामिल करने तथा पर्यावरण संरक्षण, मृदा-संवर्द्धन व जल संरक्षण के लिए इस दिशा में काफी कुछ किया जाना बाकी है।

वनों का महत्व

वनों के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों ही लाभ हैं। प्रत्यक्ष लाभ जहाँ आर्थिक रूप से लाभकारी होते हैं वहीं अप्रत्यक्ष लाभों के अंतर्गत पारिस्थितिक संतुलन व टिकाऊ विकास में इनकी भूमिका को शामिल किया जाता है। वनों से भारत में 4,000 से अधिक किस्मों से लकड़ियाँ प्राप्त हो रही हैं। इनमें सखुआ, सागवान, शीशम, देवदार आदि इमारती लकड़ियाँ महत्वपूर्ण हैं जिन पर हमारा प्लाईवुड उद्योग, काष्ठगोला उद्योग, इमारती लकड़ी उद्योग आदि निर्भर हैं। कागज, दियासलाई, कत्था, रेशम, लाख, बीड़ी, पत्तल, खिलौना, लकड़ी चौरना, प्लाईवुड, औषधि आदि उद्योगों के लिए वनों से ही कच्चा माल प्राप्त हो रहा है। डाबर, ऊँझा, इंडू, वैद्यनाथ,

हमदर्द आदि औषधि उद्योगों के लिए कच्चे माल वनों से ही मिल रहे हैं। पलास व कुसुम के पौधों पर लाख के कीटों एवं शहतूत के पौधों पर रेशम के कीटों का पालन किया जाता है। वन पशुओं के लिए चारा भी उपलब्ध कराते हैं। घरेलू ईंधन का लगभग 55% अभी भी वनों से प्राप्त हो रहा है। कुछ जगह वनों से प्राप्त काष्ठ-कोयला, पत्थर-कोयला का विकल्प बनकर आए हैं। उदाहरण के लिए भद्रावती में लोहे को गलाने के लिए काष्ठ कोयले का प्रयोग किया जा रहा है, वनों से संबंधित उद्योग धंधों में लाखों लोगों को रोजगार मिला हुआ है एवं अरबों रुपये के राजस्व की प्राप्ति होती है। वर्तमान समय में भारत के कुल सकल घरेलू उत्पाद (G.D.P) का लगभग 2% वनों से ही प्राप्त हो रहा है।

वनों के अप्रत्यक्ष लाभ पारिस्थितिक संतुलन को बनाए रखने में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह वायुमण्डल में ऑक्सीजन की उपलब्धता को बढ़ाता है एवं विषैली गैसों की मात्रा को कम करता है। वन मृदा अपरदन को रोकने में सहायक हैं एवं मिट्टी की प्राकृतिक उर्वरता को भी बनाए रखते हैं। ये भूमिगत जलस्तर को बढ़ाते हैं एवं नदियों की गति को कम करते हैं जिनसे क्रमशः सूखा व बाढ़ नियंत्रण में मदद मिलती है। वन जंगली जीव जंतुओं के प्राकृतिक आश्रय हैं एवं जैव विविधता के विशाल भंडार हैं।

वर्तमान समय में वनों की समस्याओं को दूर करने के लिए विविध उपाय किए जा रहे हैं। वनों की वैज्ञानिक व चक्र्रीय कटाई पर बल दिया जा रहा है तथा यह ध्यान रखा जा रहा है कि अपरिपक्व वृक्षों की कटाई नहीं हो। एक प्रकार के वृक्षों को एक ही समूह में लगाया जा रहा है ताकि उनके आर्थिक लाभों को बढ़ाया जा सके। वन क्षेत्रों को सुलभ यातायात से संबद्ध किया जा रहा है तथा इनके औद्योगिक उपयोगों को बढ़ाने पर बल दिया जा रहा है। वनों के बारे में एक बेहतर दृष्टिकोण विकसित करने के लिए प्रयास हो रहे हैं। इस हेतु कर्मचारियों व स्थानीय लोगों को प्रशिक्षण दिया जा रहा है तथा वन विद्यालयों व वन विश्वविद्यालयों की स्थापना की जा रही है। वनारोपण व सामाजिक वानिकी कार्यक्रमों में जन-जागरूकता बढ़ाने के लिए स्वयंसेवी संगठनों की भी मदद ली जा रही है।

झूम खेती (Shifting Cultivation)

यह पर्वतीय या पठारी भागों में वनों को काटकर की जाने वाली अस्थायी कृषि पद्धति है। वन काटने या जलाने के पश्चात् उस क्षेत्र में वहाँ के लोगों, विशेषकर जनजातियों द्वारा परंपरागत बीज डालकर, परंपरागत तरीके से कृषि की जाती है। जब दो-तीन सालों के पश्चात् भूमि की उत्पादकता